भारतीय धर्म एवं संस्कृति में श्राद्ध : एक अनुशीलन

डॉ. दिलीप कुमार नाथाणी
प्रभारी, संस्कृत शोध प्रकोष्ठ
महाराजा मानसिंह पुस्तकप्रकाश शोधकेन्द्र,
मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट, मेहरानगढ़ दुर्ग, जोधपुर

श्राद्ध के लक्षण को वीरमित्रोदयकार ने स्पष्ट रूप से परिभाषित करते हुये कहा था, जिसमें उन्होंने मनु के वचन का प्रमाण देते हुये कहा है, कि प्रजा के निःश्रेयस् के लिये पितर देवता कहे गये हैं। इसमें ब्राह्मण आहवनीयाग्नि के रूप में है, प्रत्येक मास के अपर पक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष की अमावस्या को अपराह्ण काल में श्राद्ध करना चाहिए। आपस्तम्ब ने श्राद्ध की दृष्टि से अपराह्ण काल को श्रेष्ठ कहा है। उस काल में प्रेतों व पितरों का उद्देश्य रख कर विप्र को ऐसा भोजन प्रदान किया जाय, जो स्वयं को भी प्रिय हो, वही श्राद्ध कहा है। श्राद्ध को न्यायशैली में पारिभाषित करते हुये कहा है, कि द्रव्यत्याग के द्वारा आहवनीय अग्निस्वरूप ब्राह्मण की तृप्ति ही श्राद्ध है। मरीचि ने कहा है, कि जो श्रद्धापूर्वक दिया जाय, उसे ही श्राद्ध कहा गया है। इसमें प्रेत शब्द से तात्पर्य है, ऐसे पूर्वज जिनका सपिण्डीकरण नहीं किया गया है तथा जिन पूर्वजों का सपिण्डीकरण कर दिया गया है, वे 'पितर' शब्द से अभिहित है। अतः ऐसा (उपर्युक्त श्रद्धापूर्वक जो स्वयं को भी प्रिय हो, ऐसा भोजनरूपी)दान ही श्राद्ध कहा गया है।

आपस्तम्ब-मरीचि-बृहस्पति-ब्रह्मपुराणादि में कहे गये वचनों का पर्यालोचन करते हुये श्राद्धचन्द्रिकाकार कहते हैं, कि ब्राह्मण के द्वारा आहवनीय रूप से त्याग किये गये विशेष अन्न को ग्रहण करना ही श्राद्ध पद से विवेचित है। इसके साथ ही गन्धादि (पिण्डदान के साथ पिण्डपूजन के अन्तर्गत गन्धादि से पिण्ड का पूजन), अग्नौकरण विकिरदान आदि श्राद्ध नहीं वरन् श्राद्धप्रक्रिया के अंग कहे गये हैं। ब्राह्मण द्वारा जो सिद्धि होती है, उसके अंगत्व को प्रकट करते हैं। अतः इसके कारण अग्नि आदि में प्रक्षेपादि के द्वारा भी श्राद्ध कहा गया है। साथ ही पित्र्यबलिदान आदि कर्म में भी कोई अतिव्याप्ति नहीं कही गयी है। छन्दोगपरिशिष्ट में कहा है कि श्राद्ध, पितृयज्ञ तथा पितरों के लिये बलिदान एक ही कार्य है। इसलिये पिण्डपितृयज्ञ श्राद्ध का ही स्वरूप कहा गया है। गोभिल भी इसी वचन का अनुसरण करते हुये इसका समर्थन करते हैं।

प्रमीता से तात्पर्य देवता से है, अतः जिस प्रकार यज्ञ में देवता हवि को ग्रहण करते हैं, तथैव श्राद्ध में फलभागिता उद्देश्यक ब्राह्मण त्यागे गये अन्न को ग्रहण करता है, अतः पुनः यहाँ किसी प्रकार की अतिव्याप्ति नहीं हुई। पुनः जो 'अन्न' पद का प्रयोग किया गया है, वह भोजन योग्य अर्थ को प्रकट करता है, अतः श्राद्ध में भोजन की ही प्रधानता है,

स्वर्णादि द्रव्य की नहीं। जैसा कि नृसिंहपुराण में कहा है कि श्राद्ध दिव्य पितरों के लिये अपने पितरों के लिये ऋषियों मनुष्यों (सनकादि) तथा स्वयं के लिये किया जाता है। श्राद्ध के पुनः गौण, मुख्य तथा साधारण आदि से भेद कहे गये हैं। जो प्रमीत है, उसे उद्दिष्ट करके किया गया त्याग ही श्राद्ध पद से अभिहित होने के कारण अन्न के उत्सर्ग एवं पिण्डदान दोनों में से किसी एक के किये जाने को भी श्राद्ध पद से कहा गया है। इसलिये ब्रह्मपुराण में 'अन्नत्याग के द्वारा श्राद्ध करना चाहिये' ऐसा कह कर केवल अन्नत्यागरूपी एक ही कर्म के द्वारा श्राद्ध सम्पादित करना कहा है। इसी प्रकार आहिताग्नि के द्वारा पित्रर्चन के समय पिण्डदान के द्वारा ही श्राद्ध करने का निर्देश किया गया है।

हारीत कहते हैं कि नित्यश्राद्ध में अर्घ्य व पिण्ड वर्जित है। शास्त्रोक्त तिथि आने पर पितृदेवताओं के लिये विशेष पूजा करनी चाहिये। देवीपुराण के अनुसार मघाश्राद्ध के समय पिण्डदान का निषेध दिखायी देता है। सभी कार्य अंग हैं, कहा है कि अग्नि में देने से देवलोक को प्राप्त हुये पितर तृप्त होते हैं तथा तर्पण से पितृलोक को प्राप्त पितर तृप्त होते हैं एवं तीन पिण्ड भूमि पर दान करने से नरकस्थ पितर तृप्त होते हैं। गयादि में पिण्डदान विधि मात्र कही गयी है, तथापि वह अंगभूतकर्म है, अतः वह केवल कर्मान्तर है। शूलपाणि कहते हैं, श्राद्ध विधिपूर्वक करने पर दोनों ही कर्मों को करने में से एक को निषेध कहा है, ऐसा होने पर भी सर्वश्रेष्ठ कहा है, कि अन्नोत्सर्ग एवं पिण्डदान दोनों की ही प्रधानता है।

कुछ अन्य अग्नि में आहुति को भी प्रधानता देते हैं। अग्नौकरण के उद्देश्य से ही कव्यवाहन आदि का ग्रहण करते हुए होम के अन्तर्गत ब्राह्मण में ही अग्नि का भाव रखते हुये ब्राह्मण को भोजन करवाना ही अग्नौकरण का स्वरूप माना है।

शूलपाणि ने तो सम्बोधन पद से उच्चरित तथा पितादि के लिये चतुर्थ्यन्त पद के द्वारा हवित्याग को ही श्राद्ध कहा है। इसमें शूलपाणि ने जो पितरादि शब्द का प्रयोग किया है, उसमें देवता भी सम्मिलित है, अतः देवश्राद्धादि में भी श्राद्धशब्द मुख्य रूप से व्यवहृत है।

मैथिलों के अनुसार वेद में कहे अनुसार निर्दिष्ट पात्र का आलम्बन करके हवि का त्याग ही श्राद्ध है। पिण्डदान इस कर्म का अंगस्वरूप है। श्राद्ध करके क्रोधादि नहीं करते हुये द्विजाति को श्रद्धापूर्वक उष्ण अन्न देना चाहिये। यह तथ्य पिण्डपितृयज्ञ के सन्दर्भ में कहा है।

शंका हो सकती है कि त्याग श्राद्ध नहीं है, वरन् पितरों को उद्दिष्ट करते हुये विप्र को दिया गया ही श्राद्ध कहा जाता है। ऐसा ब्रह्मपुराण में कहा है, पुनः मरीचि के अनुसार श्रद्धापूर्वक जो दिया जाय वही श्राद्ध कहा गया है। स्मृत्यन्तर के अनुसार प्रमीत पिता के पुत्र द्वारा प्रयत्नपूर्वक दिया जाना ही श्राद्ध है। अतः यहाँ दानकर्म के द्वारा द्रव्य में श्राद्धत्व उत्पन्न

हो जाता है, जब त्यागा जाय अर्थात् त्याग किया जाय तो वह द्रव्य ही श्राद्ध है। श्रद्धापूर्वक दिया जाना ही श्राद्ध कहा गया है। बृहस्पति के वाक्य के अनुसार श्रद्धापूर्वक दिया जाना अर्थ में श्राद्ध शब्द रूढ़ हो गया है । इसका कारण है कि इसका अन्यत्र प्रयोग नहीं होता । पितरों के लिए ही श्रद्धापूर्वक दिये जाने एवं उसी अर्थ में सतत प्रयोग के कारण यह शब्द पितर कर्म से सम्बन्धित रूढ़ हो गया है। यद्यपि विष्णुधर्मोत्तरादि पुराणों में दिये गये भावों के अनुसार कहा है कि -

श्रद्धा पूर्वक किया जाना ही धर्म है, अतः धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिये। श्रद्धा के द्वारा ही सभी कार्यों की सार्थकता है इसलिये कहा है कि श्रद्धावान् ही श्राद्ध करे। कात्यायन कहते हैं कि-श्राद्ध में श्रद्धा का ही प्रधान अंग रूप में होने के कारण श्रद्धा ही प्रधान है। अतः नन्दिपुराण में कहा है कि-श्रद्धा सभी भूतों की माता है इसलिये श्रद्धा का श्राद्ध कार्यों में विशेष स्थान है। यहाँ श्रद्धा की प्रशस्ति कही गयी है। इस प्रकार देखा जाय तो सकल स्मृति साहित्य में श्राद्ध का त्याग रूप ही सिद्ध होता है, अतः किसी ब्राह्मण के लिये दिये जाने वाले भोजन में 'श्राद्ध' पदार्थ क्या है? यह विचारणीय है। ब्रह्माण्ड पुराण के वचन हैं कि भोजनादि के द्वारा पितामह आदि पितरों का पूजन करना चाहिये, तदुपरान्त प्रपितामह एवं उसके पश्चात् वृद्धप्रपितामहादि का क्रमपूर्वक भोजन से यजन करना चाहिये, अतः यहाँ मरीचि के वचनों के साथ एकवाक्यता प्रमाणित होती है, कि प्रेत व पितरों को उद्दिष्ट करते हुये जो स्वयं को प्रिय लगे ऐसा भोजन श्रद्धापूर्वक देना ही श्राद्ध है।

वायुपुराण में भी कहा है-श्राद्धं चैषां मनुष्याणां श्राद्धमेव प्रवर्तते।। मैत्रायणीय मानवगृह्यसूत्र में कहा है-श्राद्धमपरपक्षे पितृभ्यो दद्यात्-अष्टावक्रभाष्यः- तत् सत्यं विधीयते यस्यां बुद्धौ सा श्रद्धा उपवासादिभिरनुष्ठिता श्रौतस्मार्त्तादिषु कर्मसु आदरेण प्रवृत्तिर्या तया श्रद्धावान् उच्यते पुमान् श्रद्धया यन्निर्वर्त्यते तत् श्राद्धं रूढ्यापि पित्र्यं कर्मोच्यते तस्य कर्मणः साधनं यत्पायसादि द्रव्यं तदिह श्राद्धमित्युच्यते तदपरपक्षे पितृभ्यो दद्यात्। श्राद्धग्रहणं संज्ञार्थं तेनापरपक्षादन्यत्रापि स्मृतिवचनादयनमृताहतीर्थादौ अनेन विधिना श्राद्धं स्यात्। अपरपक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष में पितरों के लिये दिया जाने वाला अन्न ही श्राद्ध होता है। इस वाक्य को अष्टावक्र ने अपने भाष्य में कहा है, कि जिसकी सत्य में निष्ठा एवं बुद्धि है वह श्रद्धा है, अतः श्रुति व स्मृतियों में जो उपवासादि कहे गये हैं, उन कर्मो में आदरपूर्वक प्रवृत्ति होने पर वह श्रद्धावान् कहा गया है, इस प्रकार श्रद्धापूर्वक जो कर्म किया जाय, वही श्राद्ध सिद्ध होने पर भी 'श्राद्ध' शब्द पितरों से सम्बन्धित कर्म के लिये ही प्रयुक्त होता है, तथा इस कर्म को सिद्ध करने वाले साधन के रूप में दूध है अतः दूधादि द्रव्यों का अपर पक्ष में पितरों को प्रदान करना ही श्राद्ध कहा गया है। श्राद्ध केवल अपर पक्ष में ही नहीं वरन् स्मृति के वचनों के अनुसार मृतक के वार्षिक दिवस पर, तीर्थो में, विधिपूर्वक जो किया जाय वह श्राद्ध ही है।

श्राद्ध शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से यही कहा जा सकता है, कि पिण्डदान, ब्राह्मण को संस्कृत अन्न से जिसमें घृत,

मधु, दुग्ध, तथा दधि (दही) का बाहुल्य हो ऐसे अन्न से तृप्त करना एवं अग्नौकरण इन तीनों को मिला कर श्राद्ध कार्य कहा गया है। श्राद्धकल्पलता में कई प्रकार की शंकाओं का निवारण किया गया है।

शंका:- मार्कण्डेयपुराण के आधार पर यह तर्क कैसे ग्राह्य हो सकता है कि श्राद्ध में जो अन्न-पान दिया जाता है, वह पितरों के उपयोग के लिये विभिन्न द्रव्यों में परिवर्तित हो जाता है। क्योंकि पितृगण विभिन्न स्थानों में मर सकते हैं और श्राद्ध बहुधा उन स्थानों से दूर एक ही स्थान पर किया जाता है, अतः दुष्कर्मों के कारण कोई पितर पशु रूप में परिवर्तित हो गये है, ऐसे स्थान-विशेष में उगी हुई घास वही है, जो सैकड़ों कोस दूर श्राद्ध में किये गये द्रव्यों के कारण उत्पन्न हुई है। इतना ही नहीं,यदि एक या सभी पितर पशु आदि योनि में परिवर्तित हेा गये हैं, तो किस प्रकार अपनी सन्तानों को आयु, धन आदि दे सकते हैं?

समाधान:- वस्तुतः आधुनिक समय में प्रत्येक तथ्य को प्रमाण एवं तर्क पर स्वीकारने की वृत्ति ने हमें अश्रद्धावान् बना दिया है। विज्ञान विषय में दशम कक्षा तक जो भी पढ़ा जाता है, उसमें मात्र दो-चार प्रतिशत तक का प्रयोगशालाओं में सत्यापन विद्यार्थी जीवन में देख कर शत प्रतिशत को विश्वास एवं श्रद्धा के आधार पर स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु लक्षाधिक वर्षों से परम्परा में जो विज्ञान है उस सांस्कृतिक विज्ञान को हम स्वीकारने में संशय अथवा तर्क की अपेक्षा रखते हैं। तथापि उपरोक्त शंका का समाधान भी हमें पुराणों में ही प्राप्त होता है। हरिवंश पुराण के हरिवंशपर्व के षोडश अध्याय में इसी विषय पर चर्चा है, जिसमें स्पष्ट कहा है कि स्वर्ग में जो आदि देवता के रूप में पितर विराजमान हैं, वे ही हमारे श्राद्ध को ग्रहण करते हैं अतः जब नाम, कुल, गोत्र का उच्चारण करके श्राद्ध किया जाता है, तो वे पितर देवता ही प्रसन्न होते हैं तथा वे ही हमारे पितरों को उनकी योनि में तृप्ति प्रदान करते हैं।

अतः सृष्टि के नियामक तन्त्र के अनुसार मनुष्य द्वारा अपने पितरों के लिये किये द्रव्य त्याग को ग्रहण करने वाले पितर देवता हैं, वे ही अपने द्वारा उस पदार्थ को भिन्न-भिन्न योनियों में गये हुये उस मनुष्य के पितरों को सन्तुष्ट करते हैं। अतः वसु, रुद्र, आदित्य रूप में पितर देवता ही श्राद्ध को ग्रहण करते हैं तथा मनुष्य के पितरों को उनकी योनि में सन्तुष्ट करते हैं, अतः शंका के अनुसार जो मनुष्य अपने पूर्वज पितर जो यदि पशु योनि में कहीं ऐसे स्थान पर है, जो श्राद्धकर्ता से सैकड़ों कोस दूर है, तो भी वे पितरदेवता उस योनि के पशु को घासादि तृण की पूर्ति करता है ऐसे में उस जीव की सन्तुष्टि ही उसके वंशज मनुष्य जातक को लोक की दृष्टि से सन्तुष्टि देता है। यह सृष्टितन्त्र में स्वतः होने वाली ऐसी क्रिया है, जैसे मनुष्य के शरीरतन्त्र में श्वासोच्छवास, भोजन का पचना, रक्त परिसंचरण आदि का कार्य इत्यादि। सृष्टि विज्ञान में कई तन्त्र स्वतः क्रियाशील हैं, इस वेदविज्ञान को समझन के लिये सायण, महीधर, उव्वट, भट्टभास्कर, पं.मधुसूदन ओझा, पं.मोलीलालशास्त्री जैसे वेद-मनीषियों के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है।